अपने मोर्चे पर मरने की जिद्द

प्रफुल्ल कोलख्यान

उस दिन मन बहुत उदास था। उदासी का कोई प्रत्यक्ष भौतिक कारण तो समझ में नहीं आ रहा था। बस बार-बार मिर्जा गालिब का ख्याल मन में उमड़-घुमड़ रहा था। न तो यह पता चल रहा था कि नादान दिल को हुआ क्या था और न तो यही समझ में आ रहा था कि आखिर उस मर्ज की दवा क्या थी। गर्मी का मौसम और शनिवार का दिन। बीच दोपहर में दफ्तर से छूटकर कोलकाता के धरमतला की ओर जाते हुए कड़ी धूप का भी कोई तीखा एहसास मन में नहीं था और न लोगों की आवाजाही ही मन पर कोई प्रभाव छोड़ पा रही थी। उसी मन:स्थिति में घर के बदले पहुँच गया अजायब घर। डेढ़ दो घंटे तक घूम-फिर कर देखने के बाद मन कुछ हल्का था। और था यह एहसास कि किन-किन मुश्किलों का सामना करते हुए, उन पर अपने ढंग की विजय हासिल करते हुए मनुष्य आज तक की यात्रा कर पाया है। कितनी भयानक रातें और कितने अनिश्चित दिनों को पार करते हुए मनुष्य सभ्यता ओर संस्कृति के इस पायदान पर पहुँच पाया है। जिंदगी एक युद्ध से कमतर कभी नहीं रही है।

बावजूद तमाम विकास के, आज भी जिंदगी को युद्ध स्तर पर जीने की मजबूरी लोगों के सामने मुँह बाये खड़ी है! और इस मजबूरी का मुँह दिन दूनी, रात चौगुनी की गति से और चौड़ा ही होता जा रहा है! यह बात सुनने

में और मानने में चाहे जैसी लगती हो पर इसकी सच्चाई से मुँह मोड़ना आसान काम नहीं है। शब्दों के प्रयोग के प्रति थोड़ी-सी सजगता आने के बाद जब पहली बार रेडियो समाचार से यह सुना था कि संवेदनशील जगहों पर पुलिस तैनात कर दी गई है और स्थिति नियंत्रण में है। तब मन बहुत ही अवसाद और विचलन से भर गया था। मन में तब दो प्रश्न उठे थे। पहला यह कि हम किस किस्म की सभ्यता में जी रहे हैं कि संवेदनशीलता इतनी खतरनाक हो जाती या मानी जाती है कि उससे पुलिस के बल पर ही निपटा जा सकता है? दूसरा यह कि स्थिति आखिर किसके नियंत्रण में है और यह कैसा नियंत्रण है जिसमें बेकसूर लोगों का हत या आहत होना भी जारी रहता है?

वह कौन-सी वेदना थी जो महाप्राण निराला के कंठ से गहन अंध कारा की धायल कराह बनकर फूट रही थी? भारतीय राजनीति के आकाश में जब कि एक-से-एक नक्षत्र दैदिप्यमान थे या उनके होने का दीप्त प्रभाव बना हुआ था तब कवि जनजीवन के किस गगन की ओर संकेत करते हुए कह रहा था कि इस गगन में नहीं है कोई शशधर, कोई तारा! स्वार्थ के अवगुंठनों से सारे संसार के लुंठित होने की चेतावनी को हमारे समाज ने तब किस रूप में लिया था? ऐसे ही स्वार्थ अवगुंठित लोगों को ध्यान में रखते हुए तो कभी तीखे एहसास के साथ मुक्तिबोध ने स्पष्ट रूप से कहा था कि जो तुम्हारे लिए अन्न है, वह मेरे लिए विष है। मुक्तिबोध के लिए विष का उलटा अमृत नहीं अन्न ही हो सकता था। मुक्तिबोध और उन जैसे लोग जिनके दुख के राग के कवि होते हैं उनके लिए अन्न ही अमृत होता है। इसीलिए तो बाबा नागार्जुन ने भी साफ-साफ कहा कि अन्न ब्रह्म ही ब्रह्म है, बाकी ब्रह्म पिशाच! लेकिन हमारी संवेदना में अन्न और विष की पहचान का अंतर धीरे-धीरे मिटता चला गया। हमारी प्रेरणाएँ एक-म-एक होती चली गई। ऊपर से विडंबना और विपत्ति यह कि हमारे और उनके बीच की दूरी लेकिन बढ़ती ही गई। बढ़ती ही गई है रघुवीर सहाय के रामदास की उदासी। हमारे बोलने से कुछ नहीं हुआ, सत्ता के तिलस्म को तो नहीं टूटना था सो नहीं टूटा। हमारे अंदर का कायर भी नहीं टूटा। बल्कि अब तो कई बार लगने लगता है कि हमारे अंदर का वह कायर ही आजकल अधिक वाचाल बन गया है। ध्रुवदेव मिश्र पाषाण सरीखे कवि विश्वास दिलाते रहे कि शस्त्रों और सेना के स्तर पर, सुविधा और साधन के स्तर पर, संभव है शत्रु ही समृद्ध हो, निष्ठा के स्तर पर किंतु सदा आत्मक्षीणहोता है शोषण का पक्षधर, निर्मम यह युद्ध लड़ो शोषितों के पक्ष में। पाश ने वायदा किया था कि हम लड़ेंगे साथी पर हम उस वायदे पर कायम नहीं

रह सके। लगता है कि रामदास की हत्या के साथ ही उसकी भी हत्या हो गई जिसके होने के बल पर हम अपने अंदर के कायर को डराया करते थे। हम न तो ढाल सहित लड़ पा रहे हैं, न निष्कवच होकर ही। मदन कश्यप के सपने में आते हैं भुवनेश्वर। सपने में आते हैं सर्वेश्वर। कहते हैं भेड़िया आया, गोली चलाओ मशाल जलाओ। मगर मुश्किल यह है कि अब वह दीखता ही नहीं है। ऐसे में गोली चलायी नहीं जा सकती। उधर आजकल प्रेमचंद के असली और सच्चे विरासतदार जनवाद को महाजनवाद में विकसित कर गाली चला कर भेड़िया से लड़ रहे हैं। जब मरना ही है तो क्या रघुवीर सहाय की तरह यह कहने का साहस भी जहीं जुटा सकता हूँ कि अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ -- अपने भाषा के, शिल्प के और और उस दोतरफा जिम्मेवारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।

आज हर किसी के पास अपना-अपना मोर्चा है। हर किसी के पास अपना-अपना कवच है। हर किसी के पास अपने-अपने हथियार हैं। अपने-अपने एजेंडे हैं। खोया सिर्फ साहित्य का मोर्चा है। खोया सिर्फ जीवन का एजेंडा है। कहा जाता है कि आदमी इस बात के लिए कत्तई जिम्मेवार नहीं होता है कि वह जन्म कहाँ और किन परिस्थितियों में ले, लेकिन वह इस बात के लिए थोड़ा-बहुत जिम्मेवार तो होता ही है कि वह मरे किन परिस्थितियों में। कायरों का कोई मोर्चा नहीं होता है। और नहीं होती है अपने मोर्चे पर मरने की कोई जिद्द। कुछ नहीं तो जब गैर की गली में ही मरना तय है तो काश कि हम दुष्यंत कुमार की तरह किसी गुलमोहर के लिए मरने की ही सोच पाते।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान